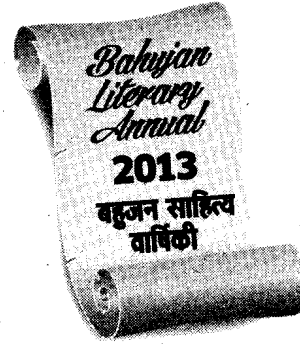


जन-जन का साहित्य



1990 तक आते-आते एक बड़े बदलाव के संकेत दिखलाई पड़ने लगे। मंडल कमीशन को लेकर हुआ आंदोलन, बाबरी मस्जिद का ध्वंस होना और आर्थिक उदारीकरण तथा भूमंडलीकरण की प्रक्रियाएं आदि इन बदलावों के प्रत्यक्ष कारक बनें

देवेन्द्र चौबे

पि

छले दो-तीन दशकों में साहित्य पर विचार-विमर्श की प्रक्रिया बदली है। खासकर, सामाजिक अस्मिता के सवाल ने लेखकों और विचारकों को उन सवालों पर सोचने के लिए दबाव डाला है, जो मुख्यधारा की प्रक्रिया से बाहर रहे हैं। यद्यपि यह कहना बहुत आसान नहीं है कि सामाजिक अस्मिता के सवाल ने यह दबाव बनाया है। कारण कुछ ऐसी आंतरिक प्रक्रियाएं होती हैं जो समाज ही नहीं उन समस्त निर्णयकारी तत्वों को प्रभावित करती हैं, जिनसे कोई भी सत्ता या निर्मिति के भविष्य के मुद्दे तय होते हैं। परंतु कुछ लोगों के लिए यह कहना बहुत आसान होता है कि जो भी समाज अथवा राजनीति में घटित हो रहा है उसका प्रत्यक्ष कारण कुछ सामाजिक समूह या समुदाय हैं। लेकिन ऐसा होता नहीं है, क्योंकि जब उनकी आंतरिक धाराओं की खोज की जाती है तब पता चलता है कि कारण कुछ और है।

भारतीय समाज और राजनीति में पिछले दो दशकों यानी कि वह कहने को मंडल कमीशन अर्थात् 1990 के बाद परिवर्तन की जो प्रक्रियाएं दिखलाई पड़ती हैं वह हैं; लेकिन भारतीय परिदृश्य के समानांतर अगर हम वैश्विक परिदृश्य पर नजर डालें तो साफ पता चलता है कि परिवर्तन की ये प्रक्रियाएं दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ही शुरू हो गई थीं। जब जर्मनी और इटली में नस्ल या अफ्रीका और लैटिन अमेरिका सहित अनेक देशों में रंग के नाम पर किए जा रहे उत्पीड़न के खिलाफ उत्पीड़ित समुदाय उठ खड़े होता है और प्रतिरोध की एक समानांतर ताकत विकसित करता है। भारतीय प्रसंग में 1947 में देश विभाजन, नई सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक स्थितियां भी सांस्कृतिक व्यवस्था के लिए एक प्रस्थान बिंदु था। यहां से सब कुछ बेहतर हो सकता था, जिसकी तरफ 1954 में प्रकाशित उपन्यास मैला आंचल में रेणु ने संकेत किया है। यह उपन्यास बताता है कि ग्रामीण भारत को अस्थिर करने वाली राजनीतिक ताकतें और सत्ता तंत्र समाज को एक ऐसे संघर्ष की ओर ढकेल रहे हैं, जहां पर मुख्यधारा और हाशिए के समाज (आदिवासी) के बीच हो रहा संघर्ष, एक अनवरत होनेवाले संघर्ष के रूप में तब्दील होता दिखलाई पड़ रहा है। राजनीतिक तंत्र चाहता तो उसे ठीक कर सकता था; लेकिन ऐसा होता नहीं है, जिसका परिणाम हमें 1956 में आम्बेडकर द्वारा अपने 3 लाख 80 हजार समर्थकों के साथ हिन्दू धर्म को छोड़कर बौद्ध धर्म में

जाने, 1967 में नक्सलवाड़ी, 1974 में जेपी के सम्पूर्ण क्रांति जैसे आंदोलनों के रूप में दिखलाई पड़ता है। इसीलिए 1990 के बाद परिवर्तन की जो प्रक्रिया दिखलाई पड़ती है उसकी एक अंतर्धारा पहले से ही चली आ रही थी जिसकी व्यापक परिणति साहित्य और विचारधारा की दुनिया में 90 के बाद दिखलाई पड़ती है। अगर हम ध्यान दें तो पता चलता है कि इन आंदोलनों और संघर्षों ने भारतीय समाज और राजनीति के क्षेत्र में कुछ ऐसे लोगों को जन्म दिया, जिन्होंने संरचनात्मक स्तर पर बदलाव लाने की प्रक्रिया शुरू की। चाहे वह दलित प्रसंग में काशीराम हो या नक्सलवाद के संदर्भ में चारू मजूमदार अथवा पिछड़े वर्ग के सामाजिक परिवर्तन के एक मुख्य कारक के रूप में कर्पूरी ठकुर। इस तरह के कई और लोग अथवा नायक हैं जिन्होंने भारतीय समाज, राजनीति, विचार और उसकी संरचना को बुनियादी स्तर पर बदलने की कोशिश की। इसी का परिणाम था कि 1990 तक आते-आते एक बड़े बदलाव के संकेत दिखलाई पड़ने लगे। मंडल कमीशन को लेकर हुआ आंदोलन, बाबरी मस्जिद का ध्वंस होना और आर्थिक उदारीकरण तथा भूमंडलीकरण की प्रक्रियाएं आदि इन बदलावों के प्रत्यक्ष कारक बनें।

दरअसल, एक सामाजिक विचारक के रूप में किसी भी व्यक्ति के लिए इन प्रक्रियाओं के स्वरूप का निर्धारण करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। खासकर, तब जब आपको यह पता है कि इन प्रक्रियाओं की केन्द्रीयता किसी भी राष्ट्र अथवा समाज की जातीय अस्मिता से जुड़ी हो। जहां पर अनेक प्रकार की अस्मिताएं आपस में टकरा रही हों, संघर्ष कर रही हों, बिखर रही हों, पर आपस में उनके बीच संवाद करने की संभावनाएं भी साफ-साफ दिखलाई पड़ रही हो ! ताकि पुनर्सृजन हो सके। साहित्य इसी पुनर्सृजन से निकलता है यानी कि टकराहट, संघर्ष, बिखराव और सृजन कहा जा सकता है कि 1990 के बाद साहित्य की दुनिया में जो विचार-विमर्श हुए उससे जिस नए साहित्य की धारणा सामने आई, ऐसा नहीं था कि वह पहले नहीं था या उस तरह की रचनाएं उन समाजों को लेकर नहीं लिखी जा रही थीं। पहले भी साहित्य और विचारधारा की दुनिया में स्त्री, दलित और आदिवासी समाज को लेकर विचार-विमर्श हो रहे थे। और किसी को छेड़ दें तो प्रेमचंद और फणीश्वरनाथ रेणु का साहित्य, पूरे भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है। 1990 के बाद फर्क यह पड़ कि इन समाजों से जुड़े साहित्य सृजन के केन्द्र में स्वयं वह समाज आकर

खड़ा हो गया। अर्थात् स्त्री लेखन के केन्द्र में स्त्री लेखिकाएं, दलित लेखन के केन्द्र में दलित लेखक, आदिवासी लेखन के केन्द्र में आदिवासी लेखक और आप्रवासी साहित्य के केन्द्र में आप्रवासी समाज ! साहित्य और विचार की दुनिया में स्त्री लेखकों में कृष्णा सोबती, मन्मू भंडारी, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका, गीतांजलिश्री आदि; आप्रवासी लेखकों में अभिमन्यु अनंत, रामदेव धुरंधर, वेणीमाधव रामखेलावन, राज हीरामन, भानुमति नागदान, गुलशन सुक्खलाल, विनयी गुदारी आदि; दलित लेखकों में तुलसी राम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, धर्मवीर, मोहनदास नैमिशराय, कंवल भारती, जयप्रकाश कर्दम, सूरजपाल चौहान, सुशीला टाकभौर, श्यामराज सिंह बेचैन, रत्न कुमार सांभरिया, गरुप्रसाद मदन, राजकुमार इतिहासकार, एआर अकेला आदि और आदिवासी लेखकों में रामदयाल मुंड, टीवी कट्टीमणि, पीटर पॉल एक्का, निर्मला पुतुल, रोज केरकट्ट, हरिराम मोणा, वंदना टेटे जैसे लेखकों का आना एक बड़ी बात और बदलाव था, जिसने पारंपरिक साहित्य और विचारधारा की दुनिया को हिलाकर रख दिया। एक तरह से साहित्य और विचार के जो केन्द्र थे वहां पर मुख्यतः वे लेखक थे जिन्हें सामाजिक विमर्श की शब्दावली में 'द्विज' अथवा 'सवर्ण' कहा जाता था। एक तरह से उस सत्ता पर मुख्यधारा के उन लोगों का कब्जा था; तथा जिन्हें समाज में वाकई शोषित, वर्चित और उपेक्षित कहा जाता था, वे हाशिए पर थे। इसीलिए स्त्री, दलित और आदिवासी लेखकों ने जो लिखा उसके केन्द्र में उनके वे अपने अनुभव व विचार थे जिनसे साहित्य की दुनिया का विस्तार हुआ। अब तक साहित्य कुछ खास सामाजिक तबकों तक सीमित था, परंतु इस विस्तार ने उसे पूरे समाज तक फैलाने का रास्ता साफ किया। एक तरह से जिसे जन-जन का साहित्य कहा जाता है तथा जो साहित्य जन-जन का होता है-इस नए साहित्य में उसका स्वरूप निर्मित होकर सामने आया।

भारतीय साहित्य और विचारधारा की दुनिया में यह एक क्रांतिकारी परिवर्तन था जिसने साहित्य की पूरी धारणा को ही बदलकर रख दिया। मुझे कई बार लगता है कि जब हम स्त्री साहित्य, दलित साहित्य, आदिवासी साहित्य, गिरमिटिया मजदूरों द्वारा लिखित आप्रवासी साहित्य अथवा वर्चित समुदाय के साहित्य की बात करते हैं तब हमारा अर्थ कहीं-न-कहीं उसी साहित्य से होता है जिसे आज कुछ विचारक 'बहुजन साहित्य' के रूप में देखने की बात करते हैं। यद्यपि यह सवाल बहुत ही पुराना है तथा उसका उत्तर भी सदियों से यही दिया जाता रहा है कि साहित्य, साहित्य होता है। स्त्री, दलित अथवा आदिवासी साहित्य नहीं ! पर यह भी सच है कि हाल के दशकों में लिखा गया यह नया साहित्य अपने-अपने समाज के सच के समर्थन में खड़ा है। इसलिए वह भी साहित्य है, एक नया साहित्य ! एक महत्वपूर्ण साहित्य, जिस पर विचार करना किसी भी आलोचक और विचारक के लिए गर्व की बात है।

यहां मुझे साहित्य के उस प्रसंग पर बातचीत जरूरी लग रही है, जिसकी चर्चा स्त्री या दलित साहित्य के समानांतर हो रही है। उदाहरण के लिए, साहित्य और विचारधारा की दुनिया में लंबे समय से यह बहस भी चल रही है कि जो लेखक न तो दलित हैं और न ही सवर्ण, न स्त्री हैं और न ही आदिवासी-इन्हें या इनके द्वारा रचित साहित्य को किस श्रेणी

में रखा जाएगा ? यहां बहस के लिए फणीश्वरनाथ नाथ रेणु, अनुप लाल मंडल, राजेन्द्र यादव, मधुकर सिंह, सुरेन्द्र स्निग्ध, रामधारी सिंह दिवाकर, संजीव, चंद्रकिशोर जायसवाल, शिवमूर्ति, प्रेमकुमार माणि, दिनेश कुशवाह आदि का नाम लिया जा सकता है, जिनकी चर्चा बहुत पहले अपने एक लेख में राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने ओबीसी साहित्य और साहित्यकार के रूप में किया था। राजेन्द्र प्रसाद सिंह हिंदी के एक गंभीर लेखक हैं तथा लम्बे समय से बिहार के सासाराम जैसी छोटी जगह पर रहकर हिंदी लेखन में हस्तक्षेप करते रहे हैं। साहित्य के इतिहास पर भी उन्होंने गंभीरता से विचार किया है। राजेन्द्र प्रसाद सिंह का ओबीसी साहित्य का प्रस्ताव यद्यपि साहित्य और विचारधारा की दुनिया के लिए एक नया प्रस्ताव है लेकिन इसकी पूरी अवधारणा जाति पर आधारित है। मुश्किल यह है कि जिस प्रकार दलित साहित्य के केन्द्र में वर्ण और जाति केन्द्रित सामाजिक व्यवस्था का विरोध है, ठीक उसी प्रकार ओबीसी साहित्य के केन्द्र में ऐसी कोई तार्किक अवधारणा नहीं है। साहित्य के केन्द्र में समाज होता है, समाज की समस्याएं होती हैं, सामाजिक वर्गों एवं समूहों का संघर्ष होता है। उनका सृजन एवं पुनर्निर्माण होता है। ओबीसी साहित्य की पूरी धारणा इस प्रकार की किसी भी निर्मिति का समर्थन करती नजर नहीं आती है। रेणु के साहित्य के केन्द्र में ग्रामीण भारतीय समाज और वहां की समस्याएं हैं। उस ग्रामीण समाज की राजनीतिक चेतना है। प्रतिरोध के अनेक रूप और विचारधाराएं हैं; जिसका किसी खास जाति के साथ कोई रिश्ता नहीं है। यह भारत के किसी भी गांव की परिघटना हो सकती है जो रेणु के 'मैला आंचल' में दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार राजेन्द्र यादव का पूरा साहित्य उस भारतीय मध्यवर्गीय सामाजिक चेतना पर आधारित है जो निर्माण एवं कुछ नई अस्मिताओं के सृजन की प्रक्रियाओं में लगा हुआ है। इसी प्रकार, प्रेमकुमार माणि का लेखन समकालीन समय के भय, दबाव आदि जैसे यथार्थ को सामाजिक विचार की प्रक्रिया में देखने एवं विचार करने का मौका प्रदान करता है। इसीलिए इन लेखकों अथवा इस प्रकार के लेखकों को ओबीसी साहित्यकार मानने में दिक्कत है। इनका लेखन इनके अपने समय के दूसरे समानधर्मी लेखकों से बहुत भिन्न नहीं है।

दरअसल, साहित्य और विचारधारा की दुनिया मुख्यतः सामाजिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से निर्धारित और नियंत्रित होती है। पिछले दो तीन दशकों का साहित्य, समकालीन साहित्य के उसी सामाजिक और ऐतिहासिक स्थितियों का प्रतिफलन है जिसके निर्माण की प्रक्रिया दूसरे विश्वयुद्ध और देश विभाजन के बाद शुरू हुई थी। आज हम जिस दौर में रह रहे हैं वहां समाज के सामने अनेक प्रकार की चुनौतियां हैं जिसमें सबसे बड़ी चुनौती है मनुष्य के अस्तित्व की रक्षा कैसे की जाए ? क्या मनुष्य के अस्तित्व की रक्षा का दायित्व लेखक संगठनों, राजनीतिक पार्टियों, सामाजिक संस्थाओं आदि पर छोड़ दिया जाए अथवा इसे एक समाज की एक सामूहिक जिम्मेदारी मानकर, उन विध्वंसकारी ताकतों का सामना किया जाए, जो मानवीय अस्मिता और चेतना के निर्माण अथवा पुनर्निर्माण में अवरोधक हैं। यह हमारे समय का एक बहुत बड़ा सवाल है जिस पर विचार करना किसी भी चेतनाशील मनुष्य के लिए जरूरी है।



देवेंद्र चौधे प्रसिद्ध आलोचक हैं और जेएनयू के भारतीय भाषा केंद्र में पढ़ाते हैं।